योगेश अटल

एशियाई संदर्भों के समाजशास्त्री

देवेश विजय

पश्चिमी साँचे में ढले समाजशास्त्र जैसे विषय को भारतीय और एशियाई संदर्भों से समृद्ध करने वाले चिंतकों में प्रोफ़ेसर योगेश अटल (9 अक्टूबर, 1937–13 अप्रैल 2018) का नाम अग्रणी रहेगा। 13 अप्रैल को उनके निधन से समाज-विज्ञान की दुनिया से एक ऐसी आवाज़ चली गयी जो उम्र के उतार-चढ़ाव से थकी नहीं थी। 58 साल की लम्बी रचनात्मकता में योगेश अटल ने दर्जन से अधिक पुस्तकें-अंग्रेज़ी व हिंदी में लिखीं तथा 40 से अधिक संग्रहों तथा रपटों का सम्पादन किया। इसके अलावा हिंदी-भाषी पाठकों के लिए उन्होंने कई मानक ग्रंथों का अंग्रेज़ी से अनुवाद किया और अकादमिक लेखन से इतर पाँच कविता-संग्रह एवं समसामयिक मुद्दों पर सैकड़ों लेख अख़बारों तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित कराए जिनके संकलन आज भी पठनीय हैं।

सामाजिक चिंतन के साथ-साथ योगेश अटल देश-विदेश की कई संस्थाओं में भी प्राचार्य अथवा अकादमिक-प्रशासक के रूप में कार्यरत रहे। 1997 में यूनेस्को से अवकाश लेने के बाद आख़िरी दिनों तक बतौर सलाहकार दर्जनों समितियों व इदारों का मार्गदर्शन लगन से करते रहे। इस कठोर साधना के दौरान वैसे तो योगेश अटल ने अपने अंतर्राष्ट्रीय अनुभवों का लाभ उठा कर बहुत कुछ लिखा जो निर्भीकता, सरसता, ज़मीनी स्पर्श तथा अंतर्दृष्टियों के कारण बेहद पठनीय है, परंतु भारत की जाति-व्यवस्था, राष्ट्र और गाँव के बीच पनपते नये रिश्तों एवं प्रवासियों की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों पर उनकी प्रस्तावनाएँ किसी भी समाजशास्त्री के लिए विशेष रूप से जानने योग्य हैं।

प्रोफ़ेसर अटल का जन्म उदयपुर शहर में हुआ था। वहीं से उन्होंने बीए की पढ़ाई पूरी की और कुछ पारखी शिक्षकों के सुझाव पर आगे की शिक्षा के लिए सागर विश्वविद्यालय चले आये। यहाँ उन्हें नामी समाजशास्त्री प्रोफ़ेसर श्यामा चरण दुबे के मार्गदर्शन में बदलती जाति-प्रथा पर पीएचडी करने का अवसर मिला। 1959 से 1962 के बीच इसी शोध के दौरान योगेश अटल ने सागर

विश्वविद्यालय में ही अध्यापन कार्य किया तथा मूल रूप से हिंदी में ही लिखी गयी अपनी पहली पुस्तक *आदिवासी भारत* 1960 में प्रकाशित करायी।

कुछ समय बाद अटल की नियुक्ति आगरा के सामाजिक विकास संस्थान में हुई जहाँ वे 1962 से 1968 तक रहे और 1964 में फ़ुलब्राइट ग्रांट तथा स्मिथ–मुंत फ़ेलोशिप के तहत एक साल के लिए कोलम्बिया विश्वविद्यालय भी गये। इसी पोस्ट–डॉक्टोरल शोध के दौरान उनका परिचय मशहूर समाजशास्त्री रॉबर्ट मर्टन एवं पॉल लाज़र्फ़ेल्ड से हुआ जिनके प्रकार्यवादी दृष्टिकोण का प्रभाव उनके चिंतन पर पड़ा। आगरा के संस्थान से जुड़े रह कर ही प्रोफ़ेसर अटल ने अपना प्रमुख ग्रंथ *द चेंजिंग फ्रंटियर्स ऑफ कास्ट* पूरा किया तथा 1967 में भारतीय योजना आयोग के निमंत्रण पर चौथे आम चुनावों में विलक्षण पैनल–तकनीक के आधार पर एटा ज़िले में अभिनव मत–सर्वेक्षण किया। यही अध्ययन आगे चल कर उनके दूसरे प्रमुख ग्रंथ *लोकल कम्युनिटीज़ ऐंड नैशनल पॉलिटिक्स* के रूप में 1971 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में ग्रामीण समाज को राष्ट्रीय संस्थाओं से जोड़ने में चुनावी प्रक्रिया के योगदान पर विस्तृत समीक्षा मिलती है।

इन आरम्भिक प्रकाशनों ने प्रोफ़ेसर अटल की पहचान अकादमिक हलक़ों में बना दी जिसकी सहायता से 1968 में उन्हें भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (दिल्ली) में बतौर असिस्टेंट प्रोफ़ेसर नियुक्ति मिली एवं 1971 में उन्हें नवगठित भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद में अनुसंधान निदेशक के पद पर कार्य करने के लिए आमंत्रित किया गया। परिषद् में प्रोफ़ेसर अटल ने उसके तत्कालीन अध्यक्ष प्रोफ़ेसर जे.पी. नायक के साथ मिल कर देश में समाज–विज्ञान की सभी शाखाओं में अनुदान व पारितोषिकों के माध्यम से शोध–कार्य को और प्रोत्साहित करने की रूप–रेखा बनाई जिसका लाभ आज तक लाखों शोधार्थी उठा चुके हैं। इसी के साथ परिषद् ने देश के युवा समाज–वैज्ञानिकों में अधिक दक्षता लाने के लिए प्रशिक्षण–कार्यशालाएँ भी चलाईं और बृहत–विषयों के दीर्घकालिक सर्वेक्षण भी प्रायोजित किये।

इन गतिविधियों में प्रोफ़ेसर अटल की भूमिका इतनी सराहनीय रही कि सितम्बर, 1974 में यूनेस्को ने उन्हें एशिया–प्रशांत क्षेत्रीय सामाजिक विज्ञान कार्यालय के अध्यक्ष के रूप में पहले जकार्ता और फिर बैंकॉक आमंत्रित किया। इन पदों पर वे 1993 तक रहे। इसके बाद उन्हें यूनेस्को के पेरिस स्थित मुख्य कार्यालय में सामाजिक विकास शाखा के मुख्य निदेशक पद पर काम करने का मौक़ा मिला। इन संस्थाओं में काम करते हुए अटल ने ग़रीबी, अशिक्षा, बहु–सांस्कृतिक समाजों में एकीकरण की समस्याओं और प्रवासियों के समायोजन की मुश्किलों पर कई गोष्ठियाँ आयोजित कीं और निबंध–संग्रह और रपटें प्रकाशित करायी। इन उपलब्धियों लिए प्रोफ़ेसर अटल को अमेरिकन बायोग्राफ़िकल इंस्टीट्यूट का मैन ऑफ़ द इयर अवार्ड, अल्बर्ट आइंस्टाइन इंटरनैशनल फ़ाउंडेशन का क्रॉस ऑफ़ मैरिट और महाराणा मेवाड़ फ़ाण्उडेशन का महाराणा मेवाड़ अवार्ड प्राप्त हुआ।

संस्थायी पुरस्कारों से अधिक किसी भी विद्वान को उसके सहकर्मियों और छात्रों से मिलने वाला आदर प्रिय होता है। अटल अपने छात्रों में बेहद लोकप्रिय थे। 2002 में उनके विद्यार्थियों और सहयोगियों ने उनके सम्मान में एक अभिनंदन ग्रंथ *इमर्जिंग कंसर्न इन सोशल साइंसेज़* प्रकाशित किया जिसके सम्पादक प्रोफ़ेसर सुरेंद्र गुप्ता थे। इस ग्रंथ में अनेक विद्वानों ने अटल के लेखन, शिक्षण शैली और अकादमिक प्रशासक के तौर पर दक्षता के बारे में मर्मस्पर्शी टिप्पणियाँ की हैं। इन्हीं में से एक प्रोफ़ेसर स्मॉलेश्ट की टिप्पणी भी है जिसमें उन्होंने यूनस्को की रपटों में तकनीकी शब्दावली के स्थान पर जीवंत भाषा के प्रयोग के लिए उनकी प्रशंसा की है।

यूनेस्को से सेवानिवृत्त हो कर भी प्रोफ़ेसर अटल अनेक अकादमिक संस्थानों से जुड़े रहे। इनमें दिल्ली के विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम की सलाहकार समिति तथा भारतीय शिक्षण संस्थान (पुणे), भारतीय सामाजिक विज्ञान संस्थान संगठन (दिल्ली)

तथा अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संवाद अकादमी (वॅर्सो) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यह देख कर अचरज होता है कि समाज-विज्ञान के क्षेत्र में ऐसी उपलब्धियों के बावजूद प्रोफ़ेसर अटल दिल्ली विश्वविद्यालय तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभागों से कभी नहीं जुड़े। यह समझना कठिन है कि इसमें किस हद तक प्रोफ़ेसर अटल के वैचारिक रुझान ज़िम्मेदार रहे और किस सीमा तक इन अकादमिक विभागों की वैचारिक प्राथमिकताओं ने भूमिका निभायी।

जिस दौर में प्रोफ़ेसर अटल ने शोध-जगत में प्रवेश किया वह समाज-वैज्ञानिकों के बीच बढ़ते मतभेदों का युग था। तथ्यवाद, संरचनावाद, प्रकार्यवाद तथा मार्क्सवाद की विभिन्न शाखाएँ इसके प्रमुख ख़ेमे सक्रिय थे। योगेश उन शोधार्थियों में थे जो एशियाई विद्वानों के बीच पश्चिम से आयातित सिद्धांतों से अधिक देशी और ज़मीनी अनुभव एवं तथ्यों की परख को तरजीह देते थे। यह सही है कि उनके अपने विचारों पर टॉलकट पार्संस तथा रॉबर्ट मर्टन जैसे प्रकार्यवादी व्याख्याकारों का प्रभाव था। प्रकार्यवाद समाज में शोषण और अन्याय की सच्चाइयों को नकारता तो नहीं है, परंतु स्थिर समाजों में स्थापित संस्थाओं के प्रगट एवं परोक्ष प्रकार्यों के महत्त्व को अधिक तरजीह देता है। समय के साथ अकादमिक जगत में मार्क्सवाद एवं उत्तर-आधुनिकतावाद ने प्रकार्यवाद का खण्डन किया और असमानताओं के बीच समाजों में राजनीतिक तनावों के साथ बढ़ते सांस्कृतिक खोखलेपन की तरफ़ ध्यान खींचा। समय के साथ स्वयं योगेश अटल भी प्रकार्यवाद से ज्यादा समाज-विज्ञान के देशीकरण पर अधिक ज़ोर देने लगे थे। इसी वैचारिक परिप्रेक्ष्य में उन्होंने कई प्रस्तावनाएँ अपनी रचनाओं में दीं। इनमें जाति-व्यवस्था को समझने के लिए मूलभूत प्रासंगिक परिधीय लक्षणों को अलग-अलग चिह्नित करना, राष्ट्रों की पहचान बनाने में भित्तियों (जैसे राष्ट्र की सीमाएँ) तथा वातायनों (जैसे चुनावों की प्रक्रिया) की भूमिका अनुरेखित करना, ग़रीबी समाप्त करने के लिए ग़ैर-पारिवारिक इकाइयों (जैसे बीमार, वृद्ध इत्यादि) पर अधिक ध्यान देने का आग्रह व प्रवासियों के पूर्वज-समाज व पोषद-समाज के बीच पनपने वाली संधिवीची संस्कृति एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को समझने के लिए दिया गया राष्ट्रीय-कुलक का सिद्धांत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

योगेश उन शोधार्थियों में थे जो एशियाई विद्वानों के बीच पश्चिम से आयातित सिद्धांतों से अधिक देशी और ज़मीनी अनुभव एवं तथ्यों की परख को तरजीह देते थे। यह सही है कि उनके अपने विचारों पर टॉलकट पार्संस तथा रॉबर्ट मर्टन जैसे प्रकार्यवादी व्याख्याकारों का प्रभाव था। प्रकार्यवाद समाज में शोषण और अन्याय की सच्चाइयों को नकारता तो नहीं है, परंतु स्थिर समाजों में स्थापित संस्थाओं के प्रगट एवं परोक्ष प्रकार्यों के महत्त्व को अधिक तरजीह देता है।

इन सभी प्रस्तावनाओं की समीक्षा इस लेख में कर पाना सम्भव नहीं है। परंतु योगेश अटल को याद करते हुए भारत की बदलती जाति-व्यवस्था की विवेचना पेश करना उपयोगी होगा। भारत की जाति व्यवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी से ही शुरू हो गया था। आज़ादी के बाद तो एम.एन.श्रीनिवास तथा बर्नार्ड कॉह्न जैसे मानव-शास्त्रियों ने इस विषय पर अपने विश्लेषण प्रस्तुत किये। इस विषद साहित्य माला में प्रोफ़ेसर अटल की रचना द *चेंजिंग फ्रंटियर्स ऑफ़ कास्ट* ने भी अपनी एक अलग पहचान बनायी।

भारत की जाति-व्यवस्था और उसकी विशिष्टता पर अनेक टिप्पणियाँ प्राचीन काल से देशी-विदेशी वृत्तांतों में मिल जाती हैं। इन विवरणों को मिला कर इस व्यवस्था के लक्षण सैद्धांतिक स्तर पर चिह्नित किये जा सकने वाले लक्षण इस प्रकार हैं :

कुछ पंथों व आदिवासियों को छोड़ कर भारतीय उप-महाद्वीप के बहुसंख्यकों का सैकड़ों

साठ के दशक में जब प्रोफ़ेसर अटल ने शोध आरम्भ किया उस समय तक जाति-व्यवस्था तथा उसके स्थायित्व की उक्त व्याख्या को देश-विदेश में प्रसिद्धि मिल चुकी थी। ऐसे में इस विषय पर कुछ और जोड़ पाना कठिन था। इसी अवधारणा को अपने ज़मीनी शोध द्वारा चुनौती देने का काम योगेश अटल ने किया। इस शोध में अटल ने विशेष रूप से दर्शाया कि जातियों की पहचान उन्हीं अंतर्विवाही समूहों के रूप में करना जरूरी है जो न्यूनतम स्तर पर अंतर्विवाही हैं। अर्थात् उनके भीतर के छोटे समूह (जैसे गोत्र, कुटुंब इत्यादि) सभी बहिर्विवाही ही हों। जाति के इस मूलभूत लक्षण की उपेक्षा करके हम वर्णों इत्यादि अंतर्विवाही जैसे प्रतीत होने वाले समुदायों से उसके भेद को ओझल कर देते हैं।

जातियों में विभाजन; ऐसे समाज में जन्म से मृत्यु तक हर व्यक्ति की किसी एक जाति से अपरिवर्तनीय पहचान और व्यक्ति की विभिन्न पहचानों में इसी पहचान की प्रधानता; जातियों की पृथकता बनाए रखने के लिए अंतरविवाह पर विशेष ज़ोर और अंतरजातीय विवाहों पर कड़ा प्रतिबंध; क्षेत्रीय स्तर पर सभी जातियों का प्रतिष्ठा अनुसार सोपानीकरण; ऐसे अनुक्रमों में जातियों की संख्या, शक्ति व साधनों से ज़्यादा उनकी कल्पित आनुष्ठानिक शुद्धता का महत्त्व; उपमहाद्वीपीय स्तर पर भी हिंदुओं में कल्पित शुद्धता के आधार पर जातियों का पाँच वर्णों में वर्गीकरण; देव पूजन को पवित्र रखने के बहाने इस समाज के सभी पेशों का कल्पित शुद्धता के अनुसार स्तरीकरण तथा पूजन-कार्य के सैद्धांतिक अधिकारी समझे जाने वाले ब्राह्मणों से लेकर मलिन-कार्यों के लिए मजबूर अस्पृश्यों तक सभी अधिकारों, सामाजिक मान व नैतिक पहचान का भी एक चरम पदानुक्रम में नियोजन; जातियों के क्षेत्रीय अनुक्रमों में पेशों, नाम, वस्त्र इत्यदि के कुछ अंतरों के बावजूद आनुष्ठानिक शुद्धता के सिद्धांत पर समान ज़ोर; औपचारिक संगठनों के अभाव में भी दैनिक जीवन में जातीय ऊँच-नीच की जजमानी व्यवस्था व प्रारब्ध जैसे विचारों के प्रभाव में आम स्वीकृति; वर्णानुक्रम में तीन सवर्ण जातियों के नीचे शूद्रों का विशाल समुदाय जिसमें किसानों से लेकर कारीगरों तक के पेशों में पुन: ऊँच नीच के आधार पर वर्गीकरण; इसी के साथ शूद्र जातियों में ही मुख्यत: जातियों की राजनीतिक या आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन के फलस्वरूप दीर्घकालिक उतार-चढ़ाव की सम्भावना; कालांतर में जाति-व्यवस्था का पूरे उपमहाद्वीप में विस्तार तथा ग़ैर-हिंदू समाजों पर भी इसका प्रभाव; अनेक आक्रमणों और गुलामी इत्यादि के बावजूद पूरे भू-भाग में जाति-व्यवस्था का विस्मयकारी स्थायित्व और इस्लाम एवं पश्चिमी प्रभावों तथा समतावादी क़ानूनों, प्रजातंत्र और दलित व पिछड़ों में विकसित राजनीतिक चेतना के बाद भी अंतरविवाह का प्रत्यक्ष एवं भेदभाव का परोक्ष प्रभाव अब भी विद्यमान रहना।

भारतीय जाति-प्रथा की यह समझ समुचित होते हुए भी कुछ बिंदुओं पर अधूरी है। एक अहम प्रश्न का उत्तर देने में यह विवरण अक्षम लगता है। तर्क और न्याय की दृष्टि से अनुचित लगने तथा सैन्य और आर्थिक प्रगति में बाधक होने के बावजूद जाति-व्यवस्था हज़ारों साल तक इतने बड़े भू-भाग में कैसे बरक़रार रही? बीसवीं शताब्दी के मध्य में इसी स्थायित्व को और स्पष्ट करने के लिए बहुत से मानव एवं समाजशास्त्रियों ने ज़मीनी शोध का रास्ता अपनाया। इन विद्वानों में एम.एन. श्रीनिवास, बर्नार्ड कॉह्न तथा आंद्रे बेते प्रमुख थे। इनके शोध से जो अहम अंतर्दृष्टि उभरी वह भारत की जाति-प्रथा के शास्त्रीय और ज़मीनी स्वरूपों के अंतर करने की थी। इस तरह के शोध से यह भी स्पष्ट हुआ कि व्यक्ति की पहचान जिन बहिर्विवाही समूहों से जुड़ी थी उन्हें उपमहाद्वीपीय स्तर पर नहीं बल्कि क्षेत्रीय स्तर पर ही परखा जाना चाहिए। इन क्षेत्रीय जातीय अनुक्रमों में शीर्ष पर ब्राह्मणों

के स्थान पर संख्या व साधनों की दृष्टि से सक्षम कोई अन्य सवर्ण या पूर्व में शूद्र मानी गयी जाति भी हो सकती है। रोचक बिंदु यह भी है कि प्रभुत्वशाली ऊर्ध्वोन्मुख जातियाँ भी संस्कृतीकरण (अर्थात् उच्च जातियों के शास्त्र-सम्मत आचार-व्यवहार जैसे मदिरा का त्याग, संस्कृतनिष्ठ भाषा व नामों का उपयोग) को ही अपनाकर जातिगत अनुक्रम में उठने का प्रयास करती थीं। इस प्रक्रिया के कारण जातिगत अनुक्रमों में कुछ दीर्घकालीन परिवर्तन होते रहे परंतु पूरी व्यवस्था और इसके वैचारिक आधारों में कोई मूलभूत बदलाव नहीं आ सका। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया (विशेषकर समतावादी क़ानूनों तथा प्रजातांत्रिक सोच) ने ज़रूर जाति-प्रथा पर चोट की, परंतु पूँजी के प्रभाव के बावजूद समाज में जातिगत विषमताएँ और मजबूत हुईं।

साठ के दशक में जब प्रोफ़ेसर अटल ने शोध आरम्भ किया उस समय तक जाति-व्यवस्था तथा उसके स्थायित्व की उक्त व्याख्या को देश-विदेश में प्रसिद्धि मिल चुकी थी। ऐसे में इस विषय पर कुछ और जोड़ पाना कठिन था। इसी अवधारणा को अपने ज़मीनी शोध द्वारा चुनौती देने का काम योगेश अटल ने किया। इस शोध में अटल ने विशेष रूप से दर्शाया कि जातियों की पहचान उन्हीं अंतर्विवाही समूहों के रूप में करना ज़रूरी है जो न्यूनतम स्तर पर अंतर्विवाही हैं। अर्थात् उनके भीतर के छोटे समूह (जैसे गोत्र, कुटुम्ब इत्यादि) सभी बहिर्विवाही ही हों। जाति के इस मूलभूत लक्षण की उपेक्षा करके हम वर्णों इत्यादि अंतर्विवाही जैसे प्रतीत होने वाले समुदायों से उसके भेद को ओझल कर देते हैं। जहाँ बहिर्विवाहिता जातियों की पहचान का मूलभूत लक्षण है, वहीं एक सा पेशा और एक जैसा खान-पान इत्यादि प्रासंगिक एवं परिधीय लक्षण कहे जा सकते हैं। जहाँ मूलभूत लक्षण जातियों की अलग पहचान क़ायम रखने का काम करते हैं, वहीं परिधीय लक्षण केवल जातिगत भेदों की स्पष्टता बढ़ाते हैं। इसी ज़मीनी हक़ीक़त को स्पष्ट करने के लिए राजस्थान व मध्य प्रदेश के एक-एक गाँव से उदाहरण लेकर प्रोफ़ेसर अटल ने दर्शाया कि खटीक जाति के पेशे दोनों प्रांतों में अलग हो गये हैं, फिर भी इन स्थानों पर क़ायम जातिगत अनुक्रमों में इस जाति की स्थिति में अंतर नहीं आया है।

संस्कृतीकरण के सिद्धांत के परिमार्जन में भी प्रोफ़ेसर अटल ने कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये। विशेषकर उन्होंने दर्शाया कि पूरे प्रांत या उप-प्रांतीय स्तर पर श्रीनिवास द्वारा इंगित एक ही प्रभुत्वशाली जाति कम ही देखने को मिलती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आस-पास के गाँवों में भी अलग-अलग जातियाँ प्रबलता रखती हैं। यदि संख्या की दृष्टि से किसी बड़े क्षेत्र पर एक प्रबल जाति का प्रभाव दिख भी जाए तो उसमें गुटबाज़ी और विभाजन की प्रक्रियाएँ भी अक्सर शुरू हो जाती हैं। आधुनिक चुनाव प्रक्रिया ने भी प्रबल जातियों में इस तरह की आंतरिक गुटबाज़ी को बढ़ाया है। इसी कारण प्रभुत्वशाली जातियों की तुलना स्थायी वोट बैंकों से करना भ्रामक है।

योगेश अटल के द्वारा प्रतिपादित सभी प्रस्तावनाएँ उनके जीवनकाल में समाजशास्त्र की मुख्यधारा का हिस्सा नहीं बन पाईं। फिर भी इनमें कई ऐसी हैं जिन पर समाजशास्त्रियों को अभी और ग़ौर करना वांछनीय है। पिछले कुछ दशकों में समाज-विज्ञान की शाखाओं पर उत्तर-आधुनिकतावाद का कोहरा छाया रहा था। इस साये में अकादमिक परिधि पर रहने वाले योगेश अटल जैसे शोधार्थियों ने संवादों के विखण्डन से ज़्यादा ज़मीनी तथ्यों को परखने का जो सिलसिला अपनाया वह आगे और फलीभूत होने वाला है, और इसी सिलसिले में समाजशास्त्र के दायरे में ग़ैर-युरोपीय संदर्भों का उपयोग और बढ़ सकता है।